Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal

(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)

(Multidisciplinary, Monthly, Multilanguage)

* Vol-3* *Issue-8* *August 2026*

www.researchvidyapith.com ISSN (Online): 3048-7331

वैदिक युग की राजनीतिक दशा एवं प्रशासन

मंजीत कुमार

शोधार्थी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. दिलीप कुमार कुशवाहा

प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल कांगडी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

Article Info: *(Recieved- 03/06/2026, Accept- 04/07/2026, Published- 06/08/2026)*

DOI- 10.70650/rvimj.2026v3i8003

सार–

ऋग्वैदिक काल भारतीय राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकास का प्रारंभिक चरण था, जिसमें प्रशासनिक व्यवस्था अपेक्षाकृत सरल, लचीली तथा जन–आधारित स्वरूप में विकसित हुई थी। इस काल में राज्य की अवधारणा पूर्णतः विकसित नहीं हुई थी, बल्कि समाज 'जन' (जनजाति) के आधार पर संगठित था। ऋग्वैदिक प्रशासन का केंद्र 'राजा' था, किंतु उसकी सत्ता पूर्णतः निरंकुश नहीं थी। वह जनसमुदाय का प्रमुख एवं प्रतिनिधि माना जाता था, जिसका मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा, शांति बनाए रखना और युद्ध के समय नेतृत्व प्रदान करना था। इस काल में 'सभा' और 'समिति' जैसी संस्थाएँ प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग थीं। 'सभा' अपेक्षाकृत छोटे, विशिष्ट और अनुभवी व्यक्तियों की परिषद् थी, जो न्यायिक तथा परामर्शदात्री कार्य करती थी, जबकि 'समिति' व्यापक जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करती थी और महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों में उसकी भूमिका होती थी। इन संस्थाओं के माध्यम से प्रशासन में जन–सहभागिता सुनिश्चित होती थी, जिससे शासन अधिक उत्तरदायी और संतुलित बना रहता था। इस दृष्टि से ऋग्वैदिक प्रशासन को एक प्रकार की प्रारंभिक जनतांत्रिक व्यवस्था भी कहा जा सकता है। प्रशासन की एक प्रमुख भूमिका शांति और सुरक्षा बनाए रखना था। निरंतर जनजातीय संघर्षों और बाहरी आक्रमणों के कारण राजा को युद्धक नेतृत्व प्रदान करना पड़ता था। 'सेनानी' जैसे पदों का उल्लेख मिलता है, जो सेना के संचालन में राजा की सहायता करते थे। इस प्रकार प्रशासन सैन्य संगठन और राज्य की रक्षा के लिए उत्तरदायी था। न्याय–व्यवस्था भी प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पक्ष थी।

बीज शब्द– ऋग्वेद, वैदिक युगीन, राजव्यवस्था, प्रशासन, सभा, समिति, न्याय व्यवस्था

राज्य में राजा की स्थिति

ऋग्वैदिक कालीन समाज राजनीतिक दृष्टि से एक सुव्यवस्थित और संगठित समाज था। उनके इस संगठन को 'जन' कहा जाता था। 'जन' वस्तुतः एक विस्तृत परिवार के समान होता था, जिसमें सभी सदस्य 'सजात' , सनाभ' एवं अपने को एक ही वंश का, परस्पर सम्बद्ध और रक्त–संबंधों से जुड़े हुए मानते थे। वे अपने समुदाय के लोगों को 'स्व' कहते थे, जबकि अन्य जनों के लोगों को 'अन्यनाभि' या 'अरण' कहा जाता था, जो बाहरी या भिन्न समूह के द्योतक थे।

प्रारंभिक काल में आर्य जन अधिकांशतः 'अनवस्थित' अवस्था में रहते थे, अर्थात् वे एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे। वे घुमंतू जीवन व्यतीत करते हुए विभिन्न प्रदेशों में विचरण करते थे। किंतु कालांतर में जब वे किसी विशेष भूभाग में स्थायी रूप से बस गए, तब उस क्षेत्र को 'जनपद' कहा जाने लगा। वेदों में 'जनपद' के लिए प्रायः 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो एक विकसित राजनीतिक इकाई का संकेत करता है।

वैदिक संहिताओं से यह स्पष्ट होता है कि उस समय अनेक जनपद या राज्य अस्तित्व में थे। इनमें भरत, त्रित्सु (वित्सु), पुरु, शृंजय, साल्व, शिव, आजिकीय, कम्बोज और गांधार आदि प्रमुख थे। इन जनपदों की अपनी–अपनी राजनीतिक संरचना और शासन प्रणाली थी, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। इन स्रोतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग की राजनीतिक व्यवस्था न केवल संगठित थी, बल्कि उसमें शासन–संस्थाओं का भी स्पष्ट विकास हो चुका था।

वैदिक युग में राज्य या राष्ट्र का सर्वोच्च पद 'राजा' का होता था। राजा राज्य का प्रमुख शासक, संरक्षक और नेतृत्वकर्ता माना जाता था। सामान्यतः राजसत्ता वंशानुगत होती थी, अर्थात् राजा के पश्चात उसका पुत्र ही उत्तराधिकारी बनता था। किंतु यह व्यवस्था पूर्णतः निरंकुश या स्वचालित नहीं थी। राजा के उत्तराधिकारी के चयन में 'विश' (अर्थात् प्रजा) की स्वीकृति अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती थी।

वैदिक युग का राजतंत्र पूर्णतः निरंकुश नहीं था, बल्कि उसमें जनमत और सामाजिक स्वीकृति का भी विशेष महत्व था। राजा को न केवल शासन करना होता था, बल्कि प्रजा के हितों की रक्षा करना, न्याय स्थापित करना और समाज में समन्वय बनाए रखना भी उसका प्रमुख कर्तव्य था। राजा के वरण अथवा निर्वाचन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए वैदिक मन्त्रों का उल्लेख अत्यंत उपयोगी है। इन मन्त्रों से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक युग में राजसत्ता केवल वंशानुगत परंपरा पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसमें प्रजा की स्वीकृति और सहभागिता का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

एक वैदिक मन्त्र में कहा गया है कि "प्रजा (विशः) तुम्हें राज्य के लिए वरण करती है; सब दिशाओं के लोग तुम्हें स्वीकार करते हैं। तुम राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो और वहाँ स्थित होकर एक योग्य शासक की भाँति सबके बीच समृद्धि का न्यायपूर्ण वितरण करो।"

इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि राजा का पद केवल जन्म के आधार पर नहीं मिलता था, बल्कि उसे प्राप्त करने के लिए प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी। 'वरण' शब्द का अर्थ केवल 'चयन' ही नहीं, बल्कि 'स्वीकार करना' भी है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्यक्ति को तभी राजा माना जाता था, जब उसे समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता था।

इसी प्रकार, अथर्ववेद में वर्णित कुछ मन्त्र राजा के निर्वाचन और उसके स्थायित्व के संबंध में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन मन्त्रों का भावार्थ इस प्रकार है– "हम प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपने मध्य प्रतिष्ठित करते हैं। तुम हमारे बीच अडिग और स्थिर रहो। समस्त प्रजा तुम्हें चाहे और तुम्हारे अधिकार को कोई चुनौती न दे। तुम यहाँ स्थित होकर उन्नति करो; तुम्हारा कभी पतन न हो, तुम कभी विचलित न हो। इन्द्र के समान दृढ़ होकर इस राष्ट्र का धारण करो। जैसे यह पृथ्वी, यह संसार और यह समस्त सृष्टि स्थिर है, वैसे ही यह राजा भी स्थिर रहे। वरुण, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि जैसे देवता इस राजा को स्थिरता प्रदान करें, जिससे वह सुदृढ़ रूप से राष्ट्र का संचालन कर सके।"

इन मन्त्रों से वैदिक युग की राजनीतिक अवधारणा के कई महत्वपूर्ण पक्ष स्पष्ट होते हैं–

पहला, राजा का निर्वाचन एक सामाजिक एवं सामूहिक प्रक्रिया थी, जिसमें प्रजा की सक्रिय भूमिका थी।

दूसरा, राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह स्थिरचित्त, दृढ़ और न्यायप्रिय हो, जिससे राज्य में स्थायित्व और समृद्धि बनी रहे।

तीसरा, राजा के पद को दैवी मान्यता भी प्राप्त थी; अर्थात् उसके शासन को देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होना आवश्यक माना जाता था, जिससे उसकी सत्ता को नैतिक और धार्मिक वैधता मिल सके।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों से वैदिक युग की राजव्यवस्था के कई महत्वपूर्ण सिद्धांत स्पष्ट होते हैं। सबसे पहले, जब प्रजा किसी व्यक्ति का राजा के रूप में वरण करती थी, तो स्वाभाविक रूप से उसकी यह अपेक्षा होती थी कि वह व्यक्ति अपने गुणों और योग्यताओं के आधार पर दीर्घकाल तक स्थिर रूप से शासन करे। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह पृथ्वी की भाँति अचल और ध्रुव बना रहे, अर्थात् उसके शासन में स्थिरता, दृढ़ता और निरंतरता बनी रहे।

इन मन्त्रों में यह भी प्रकट होता है कि राजा की स्थिरता और सफलता के लिए दैवी शक्तियों का आशीर्वाद आवश्यक माना जाता था। वरुण, बृहस्पति, इन्द्र आदि देवताओं से प्रार्थना की जाती थी कि वे राजा को इतनी शक्ति प्रदान करें कि वह अपने पद पर स्थायी रूप से कार्य कर सके और राष्ट्र का सफलतापूर्वक संचालन कर पाए। इस प्रकार, राजसत्ता को केवल लौकिक नहीं, बल्कि दैवी संरक्षण से भी युक्त माना गया था।

किन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक युग का राजतंत्र पूर्णतः निरंकुश नहीं था। यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन करने में असफल होता था या प्रजा के हितों की उपेक्षा करता था, तो उससे राजसत्ता छीनी भी जा

सकती थी। "मा त्वा राष्ट्रम् अधि भ्रपत्" जैसे वाक्यांश इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि प्रजा के पास राजा को पदच्युत करने का नैतिक अधिकार भी निहित था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय की राजनीतिक व्यवस्था में उत्तरदायित्व और नियंत्रण के तत्व भी विद्यमान थे।

इसके अतिरिक्त, राजा के चयन में एक और महत्वपूर्ण शर्त यह थी कि वह उसी 'जन' का सदस्य हो, जिससे राष्ट्र का निर्माण हुआ है। अर्थात् राजा और प्रजा के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक और वंशगत एकता आवश्यक मानी जाती थी। इसीलिए अथर्ववेद में एक स्थान पर राजा स्वयं को राष्ट्र का अपना व्यक्ति बताते हुए कहता है– "मैं इस राष्ट्र का अपना (अंतरंग) व्यक्ति हूँ; मैं स्वयं को और अधिक योग्य बनाऊँगा।"

एक अन्य मन्त्र में राजा को 'अन्तर्भू' (या 'मन्तरभूः') कहा गया है, जिसका आशय यह है कि वह बाहरी नहीं, बल्कि उसी समाज का अभिन्न अंग है। यह अवधारणा इस बात को पुष्ट करती है कि वैदिक काल में शासक और शासित के बीच गहरा आत्मीय संबंध था।

समग्र रूप से, इन मन्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग की राजव्यवस्था में प्रजा की स्वीकृति, राजा की योग्यता और स्थिरता, दैवी समर्थन तथा उत्तरदायित्व एवं पदच्युति की संभावना इन सभी तत्वों का संतुलित समन्वय पाया जाता था। यह व्यवस्था एक प्रकार से प्रारंभिक जनतांत्रिक चेतना और उत्तरदायी राजतंत्र का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।

राजा के कर्तव्य, प्रजा से संबंध और 'वलि' व्यवस्था

वैदिक युग में 'विशः' (प्रजा) जिस व्यक्ति का राजा के रूप में वरण करती थी, उससे केवल शासन करने की अपेक्षा नहीं रखती थी, बल्कि उससे अनेक महत्वपूर्ण कर्तव्यों के पालन की आशा भी करती थी। इन कर्तव्यों में प्रजा के आर्थिक कल्याण की व्यवस्था करना तथा समाज में समृद्धि और वैभव का प्रसार करना सबसे प्रमुख था।

उस समय की सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था में भूमि, पशुधन और अन्य संसाधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा सामूहिक स्वामित्व की भावना अधिक प्रबल थी। अर्थात् सम्पूर्ण 'जन' ही इन संसाधनों का वास्तविक स्वामी माना जाता था। भूमि से उत्पन्न अन्न, पशुओं से प्राप्त संपदा तथा अन्य आर्थिक उत्पादों को समस्त प्रजा के बीच न्यायसंगत ढंग से वितरित करना अत्यंत आवश्यक कार्य था। यह कार्य राजा के नेतृत्व में सम्पन्न होता था, इसलिए उसकी भूमिका केवल शासक की नहीं, बल्कि एक समन्वयक और संरक्षक की भी थी।

इसी संदर्भ में अथर्ववेद में राजा को 'धन और संपत्ति प्रदान करने वाला' तथा 'वसु (धन) का सुदृढ़ एवं न्यायपूर्ण विभाजन करने वाला' कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा का एक प्रमुख दायित्व आर्थिक न्याय स्थापित करना और संसाधनों का संतुलित वितरण सुनिश्चित करना था।

राजा के इन कर्तव्यों के बदले में प्रजा उसे 'वलि' (कर) प्रदान करती थी। यह 'वलि' एक प्रकार का पारिश्रमिक या सम्मान–स्वरूप कर था, जो प्रजा द्वारा स्वेच्छा या सामाजिक दायित्व के रूप में दिया जाता था। ऋग्वेद में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "हम स्थिर (ध्रुव) राजा को स्थिर हवियों द्वारा संतुष्ट करते हैं। राजा ही अकेला विशः से वलि (कर) प्राप्त करने का अधिकारी है।" इस मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि कर लेने का अधिकार केवल राजा को ही प्राप्त था, और यह अधिकार उसे इसलिए दिया गया था क्योंकि वह प्रजा की रक्षा करता था, राज्य में व्यवस्था बनाए रखता था तथा आर्थिक संसाधनों का उचित वितरण करता था।

इसी कारण अथर्ववेद में राजा को 'राष्ट्रभृत्य' (अर्थात् राष्ट्र का सेवक) कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा स्वयं को प्रजा का स्वामी नहीं, बल्कि उसका सेवक मानता था। वह राष्ट्र की सेवा के लिए नियुक्त एक उत्तरदायी अधिकारी के समान था।

एक अन्य वैदिक भाव में यह भी व्यक्त किया गया है कि राजा 'विशः' (प्रजा) का 'अनुचर' है, अर्थात् वह प्रजा के हितों का अनुसरण करने वाला है। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि वैदिक युग में वास्तविक सत्ता का केंद्र प्रजा ही थी, और राजा उसका प्रतिनिधि एवं सेवक मात्र था।

वैदिक युग की यह व्यवस्था अत्यंत संतुलित और आदर्श प्रतीत होती है, जिसमें आर्थिक न्याय, पारस्परिक उत्तरदायित्व, सेवा की भावना तथा प्रजा–प्रधान दृष्टिकोण सभी का सुंदर समन्वय मिलता है। यह व्यवस्था न केवल एक सुदृढ़ राजतंत्र का उदाहरण प्रस्तुत करती है, बल्कि उसमें प्रारंभिक लोकतांत्रिक चेतना के तत्व भी स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

वेदों में राजा के वरण (निर्वाचन) की कोई स्पष्ट, औपचारिक या विस्तृत प्रक्रिया वर्णित नहीं मिलती, जिससे यह निश्चित रूप से बताया जा सके कि चुनाव किस प्रकार संपन्न होता था। फिर भी, अथर्ववेद में 'राजानः राजकृतः' (अर्थात् राजा बनाने वाले) का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रक्रिया के स्वरूप को समझने में अत्यंत महत्वपूर्ण संकेत प्रदान करता है।

'राजकृतः' शब्द का अर्थ है– वे लोग जो राजा के निर्माण या चयन में प्रमुख भूमिका निभाते थे। अथर्ववेद में धीवान्, रथकार, कर्मार, सूत तथा ग्रामणी आदि को 'राजकृतः' कहा गया है। ये सभी समाज के विभिन्न वर्गों और व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करते थे–

- ग्रामणी– ग्राम या गाँव का प्रधान (मुखिया), जो स्थानीय प्रशासन और जनजीवन का नेतृत्व करता था।
- धीवान्– बुद्धिमान या विचारशील व्यक्ति, जो परामर्शदाता की भूमिका निभाते थे।
- रथकार– रथ बनाने वाले शिल्पी, जिनका युद्ध और परिवहन में विशेष महत्व था।
- कर्मार– लोहार या धातु–शिल्पी, जो अस्त्र–शस्त्र और उपकरण बनाते थे।
- सूत– रथचालक, दूत या इतिहास–वक्ता (कथावाचक), जो राजकीय और सैन्य कार्यों से जुड़े होते थे।

इन वर्गों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि राजा के चयन में केवल उच्चवर्गीय या कुलीन लोग ही नहीं, बल्कि समाज के विभिन्न उपयोगी और महत्वपूर्ण वर्गों की भी भागीदारी थी। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक युग की राजनीतिक व्यवस्था में एक प्रकार की सामूहिकता और प्रतिनिधित्व की भावना विद्यमान थी।

सभा और समिति

वैदिक युग के राष्ट्रों का शासन केवल राजा के हाथों में केंद्रित नहीं था, बल्कि उसकी सहायता के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक दो महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी विद्यमान थीं। ये दोनों संस्थाएँ शासन–व्यवस्था को संतुलित, परामर्शात्मक और जन–आधारित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

समितिः जन–संस्था का स्वरूप

'समिति' मूलतः सम्पूर्ण 'विशः' (प्रजा) की संस्था मानी जाती थी। इसमें सामान्यतः जनपद के वयस्क सदस्य भाग लेते थे और राज्य के महत्वपूर्ण विषयों पर विचार–विमर्श करते थे। यह एक प्रकार की जनसभा थी, जहाँ नीतियों का निर्धारण, शासन से संबंधित महत्वपूर्ण निर्णय तथा सामूहिक हितों के प्रश्नों पर चर्चा होती थी। इस दृष्टि से 'समिति' को एक प्रारंभिक जनतांत्रिक संस्था कहा जा सकता है। इसकी तुलना प्राचीन एथेंस की 'एक्लीजिया' से की जा सकती है, जहाँ सभी वयस्क नागरिक एकत्र होकर राज्य के लिए कानून और नीतियाँ निर्धारित करते थे। हालाँकि यह भी संभव है कि सभी वयस्क नागरिक प्रत्यक्ष रूप से समिति में सम्मिलित न होते हों, बल्कि एक विशिष्ट वर्ग जिसे वैदिक साहित्य में 'राजानः' या 'राजकृतः' कहा गया है ही इसका सक्रिय सदस्य होता हो। ये वे प्रमुख व्यक्ति थे, जो समाज के प्रभावशाली वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे और राजा के चयन में भी भूमिका निभाते थे। इसी संदर्भ में यजुर्वेद का एक मन्त्र उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है– "जिसके पास औषधियाँ उसी तरह से एकत्र होती हैं, जैसे कि समिति में 'राजानः', उसी विप्र को भिषक कहते हैं।" इससे यह संकेत मिलता है कि समिति में प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति (राजानः) एकत्र होकर सामूहिक विचार–विमर्श करते थे।

सभाः परामर्शदात्री संस्था

'सभा' भी एक महत्वपूर्ण संस्था थी, जो संभवतः अपेक्षाकृत छोटे और विशिष्ट वर्ग की परिषद् थी। इसका कार्य राजा को उचित परामर्श देना और शासन के महत्वपूर्ण विषयों पर मार्गदर्शन करना था।

अथर्ववेद में एक मन्त्र में राजा यह प्रार्थना करता है– "सभा और समिति प्रजापति की दुहिताएँ हैं; वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उचित परामर्श दें। उनमें एकत्र हुए 'पितर' (वृद्ध) लोग यथोचित भाषण करें।" इस मन्त्र से कई महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं कि सभा और समिति को अत्यंत सम्मानित और प्राचीन संस्थाएँ माना गया है, जिन्हें 'प्रजापति की दुहिताएँ' कहा गया है, अर्थात् वे दैवी या प्राकृतिक व्यवस्था का अंग थीं। इनका निर्माण राजा ने नहीं किया था, बल्कि ये स्वतंत्र और परंपरागत संस्थाएँ थीं। ये संस्थाएँ राजा की रक्षा करती थीं, अर्थात् उसे सही मार्ग पर बनाए रखने का कार्य करती थीं। वे राजा को उचित परामर्श देती थीं, जिससे शासन में संतुलन और न्याय बना रहे।

मन्त्र में उल्लिखित 'पितर' शब्द का अभिप्राय उन अनुभवी और वरिष्ठ व्यक्तियों से है, जिन्हें बाद के साहित्य में 'वृद्ध' या 'कुलवृद्ध' कहा गया। ये वे लोग थे जो विभिन्न कुलों (परिवारों) के प्रमुख होते थे, जिनके पास अनुभव, ज्ञान और सामाजिक प्रतिष्ठा होती थी और जो शासन–कार्य में महत्वपूर्ण योगदान देते थे। इसी प्रकार ग्राम स्तर पर 'ग्रामवृद्ध' होते थे, जो स्थानीय प्रशासन में सहयोग करते थे। सम्भवतः यही 'वृद्ध' या 'पितर' सभा और समिति में एकत्र होकर अपने विचार प्रस्तुत करते थे और निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया को दिशा देते थे।

इस प्रकार, वैदिक युग की शासन–व्यवस्था में राजा (कार्यपालिका का प्रमुख), समिति (जन–प्रतिनिधि संस्था) और सभा (परामर्शदात्री परिषद्) तीनों के बीच एक संतुलित संबंध स्थापित था। यह व्यवस्था दर्शाती है कि वैदिक

काल में शासन केवल एक व्यक्ति के अधीन नहीं था, बल्कि उसमें जनसहभागिता, सामूहिक विचार–विमर्श तथा अनुभवी व्यक्तियों के परामर्श इन सभी का महत्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक साहित्य में 'सभा' और 'समिति' जैसी संस्थाओं का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये संस्थाएँ उस समय की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग थीं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'वृद्ध' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है, अर्थात् समाज के वे अनुभवी, वरिष्ठ और सम्मानित व्यक्ति, जो निर्णय–प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। यह तथ्य इस बात को पुष्ट करता है कि सभा और समिति में ऐसे ही 'वृद्ध' या 'पितर' वर्ग के लोग प्रमुख रूप से सम्मिलित होते थे।

वेदों में सभा और समिति की महत्ता को दर्शाने वाले अनेक मन्त्र मिलते हैं। एक मन्त्र में राजा यह प्रार्थना करता है– "सभा मेरी रक्षा करे, और उसके जो सभ्य (सभासद्) हैं, वे भी मेरी रक्षा करें।" इससे स्पष्ट होता है कि सभा केवल परामर्श देने वाली संस्था ही नहीं थी, बल्कि वह राजा की सुरक्षा, मार्गदर्शन और नियंत्रण का भी कार्य करती थी। अन्य स्थानों पर सभा, समिति और सेना का एक साथ उल्लेख मिलता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि ये तीनों संस्थाएँ राज्य–व्यवस्था के प्रमुख स्तंभ थीं– सभा (परामर्श), समिति (जन–सहभागिता) और सेना (रक्षा)।

एक अन्य मन्त्र में यह कामना की गई है कि सभा के सभासद् 'सवाचस' हों, अर्थात् उनकी वाणी में एकता हो। वे परस्पर विरोधी या विघटनकारी विचार न रखें, बल्कि समन्वित और सामूहिक दृष्टिकोण से कार्य करें। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में विचार–विमर्श की प्रक्रिया केवल बहस तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसका उद्देश्य सामंजस्य और सर्वसम्मति स्थापित करना था। सभा और समिति के क्रमिक विकास पर अथर्ववेद के एक सूक्त से अत्यंत महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस सूक्त में समाज और शासन–व्यवस्था के विकास को प्रतीकात्मक और दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहा गया है कि प्रारंभ में 'विराट्' अवस्था थी, जो एक प्रकार की अराजक या असंगठित स्थिति को दर्शाती है। इस अवस्था में कोई निश्चित राजनीतिक संगठन नहीं था, जिससे लोगों में भय और असुरक्षा का भाव उत्पन्न हुआ कि क्या यही स्थिति स्थायी रहेगी।

इसके पश्चात् इस 'विराट्' अवस्था में उत्क्रांति (विकास) हुई और समाज 'गार्हपत्य' अवस्था में पहुँचा। 'गार्हपत्य' का संबंध गृह या परिवार से है, जिससे यह संकेत मिलता है कि समाज ने एक संगठित पारिवारिक ढाँचा विकसित किया। इसके बाद पुनः विकास हुआ और यह 'आहवनीय' अवस्था में परिवर्तित हुआ, जो सामूहिक अनुष्ठानों और सामाजिक एकता का प्रतीक है। इसके आगे 'दक्षिणाग्नि' की अवस्था आई, जो अधिक संगठित और विकसित सामाजिक–राजनीतिक संरचना को दर्शाती है।

इसी क्रम में आगे बढ़ते हुए समाज 'सभा' की अवस्था में पहुँचा। इसका अर्थ है कि अब एक ऐसी संस्था का विकास हुआ, जहाँ विशिष्ट और अनुभवी व्यक्ति एकत्र होकर विचार–विमर्श करने लगे। जो व्यक्ति इस व्यवस्था को समझता था, वह 'सभ्य' (सभा का सदस्य) बनने योग्य माना जाता था। इसके बाद और अधिक विकास हुआ और 'समिति' की अवस्था का उदय हुआ, जो व्यापक जन–सहभागिता की संस्था थी। जो इस प्रणाली को समझता था, वह 'सामितेय' (समिति का सदस्य) कहलाता था।

अंततः 'आमन्त्रण' की अवस्था का उल्लेख किया गया है, जो संभवतः और अधिक विकसित तथा संगठित राजनीतिक प्रणाली का प्रतीक है, जिसमें निर्णय–प्रक्रिया और सहभागिता का स्तर और अधिक व्यापक हो गया था। इस पूरे सूक्त से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की राजनीतिक संस्थाएँ अचानक विकसित नहीं हुई थीं, बल्कि वे एक दीर्घकालीन सामाजिक उत्क्रांति का परिणाम थीं। प्रारंभिक अराजकता से लेकर संगठित परिवार, फिर सामूहिक अनुष्ठान, और अंततः सभा तथा समिति जैसी संस्थाओं का विकास एक क्रमिक और स्वाभाविक प्रक्रिया थी।

अथर्ववेद के इस सूक्त में मानव–समाज तथा उसकी राजनीतिक–सामाजिक संस्थाओं के क्रमिक विकास का अत्यंत सुंदर, तार्किक और स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस वर्णन के अनुसार प्रारंभ में 'विराट्' अवस्था थी, जो एक प्रकार की अराजक या अव्यवस्थित स्थिति का प्रतीक थी। इस अवस्था में कोई निश्चित सामाजिक या राजनीतिक संगठन नहीं था, जिसके कारण लोगों में भय, असुरक्षा और आशंका का वातावरण व्याप्त था। यही विचार महाभारत में भी परिलक्षित होता है, जहाँ अराजकता को मानव जीवन के लिए संकटपूर्ण बताया गया है। इस अराजक स्थिति से धीरे–धीरे उत्क्रांति (विकास) हुई और सबसे पहले 'गार्हपत्य' अवस्था का उदय हुआ। 'गार्हपत्य' का संबंध 'गृह' या 'परिवार' से है, अतः यह स्पष्ट करता है कि मानव समाज का प्रारंभिक संगठन परिवार के रूप में हुआ। इस अवस्था में पति, पत्नी और संतान मिलकर एक संगठित, अनुशासित और मर्यादित जीवन व्यतीत करने लगे। परिवार ही सामाजिक संगठन की सबसे छोटी और मूल इकाई था, जहाँ से सामाजिक जीवन की आधारशिला रखी गई।

इसके पश्चात् गार्हपत्य या पारिवारिक संगठन में और विकास हुआ और 'आहवनीय' अवस्था का उदय हुआ। 'आहवनीय' शब्द का अर्थ है जिसमें आह्वान (बुलावा) किया जाए। इससे यह संकेत मिलता है कि अब समाज का संगठन केवल परिवार तक सीमित न रहकर व्यापक रूप लेने लगा। संभवतः यह 'ग्राम' (गाँव) के संगठन का प्रतीक है, जहाँ विभिन्न कुलों या परिवारों के मुखिया किसी विशेष अवसर या आवश्यकता पर एकत्र किए जाते थे और सामूहिक निर्णय लिए जाते थे। इस प्रकार, 'आहवनीय' अवस्था सामुदायिक जीवन और सामूहिकता की भावना के विकास को दर्शाती है।

इसके बाद 'दक्षिणाग्नि' अवस्था का विकास हुआ। 'दक्षिण' का अर्थ है कुशल या चतुर, और 'अग्नि' का अर्थ 'अग्रणी' या नेतृत्व करने वाला माना गया है (जैसा कि निरुक्त में भी वर्णित है)। अतः 'दक्षिणाग्नि' उस संगठन का प्रतीक है, जिसमें कुशल और सक्षम नेता एकत्र होकर नेतृत्व का कार्य करते थे। यह संगठन ग्राम से भी व्यापक स्तर का प्रतीत होता है, जो संभवतः 'जनपद' या 'राष्ट्र' की प्रारंभिक संरचना का सूचक था, जिसमें विभिन्न ग्रामों के प्रमुख (ग्रामणी) सम्मिलित होकर सामूहिक रूप से शासन–कार्य में भाग लेते थे।

इस क्रमिक विकास के पश्चात् 'सभा' और 'समिति' जैसी संस्थाओं का उदय हुआ, जो वैदिक युग की उन्नत राजनीतिक संस्थाएँ थीं। 'सभा' एक विशिष्ट, सीमित और अनुभवी व्यक्तियों की परिषद् थी, जबकि 'समिति' व्यापक जन–सहभागिता की संस्था थी। ये दोनों संस्थाएँ मिलकर राष्ट्र या जनपद के शासन को संचालित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। इनके माध्यम से शासन में परामर्श, विमर्श और जन–इच्छा का समुचित समन्वय स्थापित होता था।

इन संस्थाओं के आगे 'आमन्त्रण' नामक एक और व्यापक संगठन का उल्लेख मिलता है। 'आमन्त्रण' शब्द से ही स्पष्ट होता है कि यह एक ऐसा मंच था, जिसमें बड़ी संख्या में लोगों को आमंत्रित किया जाता था। यह संभवतः एक अत्यंत व्यापक और सर्वसमावेशी सभा रही होगी, जिसमें विभिन्न जनपदों या बड़े समुदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। इसे वैदिक युग की सबसे विकसित और व्यापक राजनीतिक–सामाजिक संस्था के रूप में देखा जा सकता है। अथर्ववेद के इस सूक्त में मानव–समाज के विकास की एक क्रमिक और वैज्ञानिक प्रक्रिया अराजकता से परिवार, परिवार से ग्राम, ग्राम से जनपद, और अंततः संगठित राष्ट्र तथा उसकी संस्थाओं तक का वर्णन मिलता है। यह न केवल वैदिक समाज की उच्च बौद्धिक और दार्शनिक चेतना को दर्शाता है, बल्कि यह भी सिद्ध करता है कि उस समय की राजनीतिक व्यवस्था एक दीर्घकालीन सामाजिक विकास का परिणाम थी, जिसमें संगठन, नेतृत्व और जनसहभागिता के सिद्धांत क्रमशः विकसित हुए।

अथर्ववेद के जिस सूक्त का यहाँ उल्लेख किया गया है, उसका महत्व अत्यंत अधिक है, क्योंकि सम्भवतः यह विश्व की प्राचीनतम वैचारिक अभिव्यक्तियों में से एक है, जिसमें मानव–समाज और राज्य–संस्था की उत्पत्ति तथा उसके क्रमिक विकास पर विचार किया गया है। इस सूक्त में जिस प्रकार अराजक 'विराट्' अवस्था से लेकर परिवार, ग्राम, जनपद और अंततः सभा एवं समिति जैसी संस्थाओं के विकास का क्रम प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यंत वैज्ञानिक और तार्किक प्रतीत होता है। आश्चर्य की बात यह है कि आधुनिक युग के समाजशास्त्री और राजनीतिक विचारक भी सामान्यतः मानव–समाज के विकास का यही क्रम स्वीकार करते हैं पहले परिवार का निर्माण, फिर ग्रामों का संगठन, उसके बाद जन और जनपदों का विकास, और अंततः राज्य–संस्था का उदय।

हालाँकि 'दक्षिणाग्नि' और 'आमन्त्रण' जैसे शब्दों का सटीक और निश्चित अर्थ पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये किसी विकसित सामाजिक–राजनीतिक संगठन की अवस्थाओं के प्रतीक रहे होंगे। इसके विपरीत, 'सभा' और 'समिति' ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से मिलता है और जिनकी प्रकृति एवं कार्यों के बारे में अपेक्षाकृत अधिक जानकारी उपलब्ध है। ऋग्वेद में 'सभा' का उल्लेख कई बार हुआ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह संस्था उस समय तक भली–भाँति विकसित हो चुकी थी। एक मन्त्र में यह कामना की गई है– "तुम अपने घर को शुभ बनाओ, तुम्हारी वाणी कल्याणकारी हो, और तुम दीर्घकाल तक सभा में स्थान पाओ।" इससे स्पष्ट है कि सभा का सदस्य होना एक सम्मानजनक और प्रतिष्ठित स्थिति मानी जाती थी।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है–"वह सदा सभा में जाता है", जो यह दर्शाता है कि सभा में नियमित रूप से उपस्थित होना सामाजिक और राजनीतिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था। इसी प्रकार 'सभेय' शब्द का भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है– सभा का सदस्य। इससे यह सिद्ध होता है कि सभा कोई सामान्य भीड़ या अनौपचारिक जमावड़ा नहीं थी, बल्कि एक सुव्यवस्थित और संगठित संस्था थी, जिसके निश्चित सदस्य होते थे और जो एक निश्चित उद्देश्य के साथ कार्य करती थी।

यद्यपि सभा का मुख्य कार्य शासन और विचार–विमर्श से संबंधित था, फिर भी कभी–कभी यह सामाजिक और मनोरंजनात्मक गतिविधियों का केंद्र भी बन जाती थी। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के एक मन्त्र में उल्लेख है कि

"जुआ खेलने वाले सभा में जाते हैं, यह सोचकर कि वे विजयी होंगे; वहाँ उनके पासे बिखरे रहते हैं।" इससे यह संकेत मिलता है कि सभा केवल राजनीतिक संस्था ही नहीं थी, बल्कि वह सामाजिक जीवन का भी एक महत्वपूर्ण केंद्र थी, जहाँ लोग विभिन्न गतिविधियों के लिए एकत्र होते थे।

इन सभी साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल तक भारतीय जनपदों और राष्ट्रों में 'सभा' जैसी संस्था पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। यह न केवल शासन–व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग थी, बल्कि सामाजिक जीवन, विचार–विमर्श और सांस्कृतिक गतिविधियों का भी केंद्र थी।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में तो यह निर्देश भी मिलता है कि राजा को समिति में सम्मिलित होने के लिए जाना चाहिए, जिससे यह सिद्ध होता है कि समिति का स्थान शासन–प्रणाली में अत्यंत उच्च और प्रभावशाली था। यद्यपि वैदिक ग्रंथों में सभा और समिति के बीच का स्पष्ट और व्यवस्थित अंतर प्रत्यक्ष रूप से वर्णित नहीं है, तथापि विभिन्न मन्त्रों और संदर्भों के गहन अध्ययन के आधार पर विद्वानों ने इनके स्वरूप और कार्यों के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि 'समिति' सभा की अपेक्षा अधिक व्यापक और बड़ी संस्था थी, जो सम्पूर्ण 'विशः' (प्रजा) का प्रतिनिधित्व करती थी। यह एक प्रकार की जनसभा थी, जिसमें राष्ट्र के विभिन्न भागों से प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे।

समिति के अध्यक्ष को 'ईशान' कहा जाता था। 'ईशान' शब्द से यह संकेत मिलता है कि वह व्यक्ति समिति का संचालन करता था, विचार–विमर्श को दिशा देता था और संभवतः निर्णय–प्रक्रिया का नेतृत्व भी करता था। यह पद अत्यंत सम्मानजनक और प्रभावशाली रहा होगा। इसके विपरीत, 'सभा' अपेक्षाकृत एक छोटी और विशिष्ट संस्था थी, जिसमें केवल चुनिंदा, अनुभवी और प्रतिष्ठित व्यक्ति जैसे– 'पितर' (वृद्ध), कुलप्रमुख या समाज के अग्रणी लोग सम्मिलित होते थे। सभा का स्वरूप अधिक परामर्शात्मक और विश्लेषणात्मक था। इसमें जटिल विषयों पर गंभीर चर्चा होती थी और राजा को नीति–निर्धारण में मार्गदर्शन दिया जाता था। सभा का एक महत्वपूर्ण कार्य न्यायिक भी था। यह संस्था राष्ट्र के 'प्रधान न्यायालय' के रूप में कार्य करती थी, जहाँ विवादों का निपटारा किया जाता था और न्याय प्रदान किया जाता था। इस प्रकार, सभा केवल परामर्शदात्री परिषद् ही नहीं, बल्कि न्याय–प्रशासन की भी प्रमुख संस्था थी।

वैदिक युग की शासन–व्यवस्था में यह अत्यंत आवश्यक माना जाता था कि 'सभा' और 'समिति' के सदस्य परस्पर सहयोग, सामंजस्य और एकता की भावना के साथ कार्य करें। केवल बहस या मतभेद ही उद्देश्य नहीं था, बल्कि विचार–विमर्श का लक्ष्य अंततः एकमत तक पहुँचना होता था। इसी कारण यह अपेक्षा की जाती थी कि उनके मन, वाणी और विचारों में समन्वय हो साथ ही वे एक ही दिशा में सोचें, एक ही नीति (मन्त्र) का निर्धारण करें और सामूहिक हित को सर्वोपरि रखें।

सभा का न्यायिक स्वरूप और अधिकार

वैदिक युग की 'सभा' केवल परामर्शदात्री संस्था ही नहीं थी, बल्कि वह न्याय–प्रशासन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण इकाई भी थी। समाज में उत्पन्न होने वाले विवादों, अपराधों और अन्य न्यायिक विषयों का निपटारा प्रायः इसी संस्था के माध्यम से किया जाता था। इस संबंध में वैदिक साहित्य में अनेक महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं, जो सभा की न्यायिक भूमिका को स्पष्ट करते हैं। अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। इस शब्द की व्याख्या प्रख्यात आचार्य सायणाचार्य ने इस प्रकार की है कि "जहाँ अनेक लोग एकत्र होकर किसी एक निर्णय पर पहुँचते हैं, उस निर्णय का उल्लंघन अन्य लोगों द्वारा नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि वह 'अनतिलंघ्य' (अविचलनीय) होता है।"

इस व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि सभा के निर्णय अत्यंत प्रभावशाली और बाध्यकारी होते थे। 'नरिष्ट' विशेषण यह संकेत करता है कि सभा द्वारा दिया गया न्याय अंतिम माना जाता था, और उसका उल्लंघन करना सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अनुचित समझा जाता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सभा को एक प्रकार का सर्वोच्च न्यायिक अधिकार प्राप्त था।

इसी प्रकार, ऋग्वेद में सभा के लिए 'किल्विष–स्पृत' (या 'किल्विप–स्पृत') विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है– "पाप या अपराध का निवारण करने वाली।" यह विशेषण स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि सभा का प्रमुख कार्य समाज में उत्पन्न अपराधों और दोषों का परिमार्जन करना था। अर्थात् सभा न्याय प्रदान करने वाली संस्था थी, जो सामाजिक संतुलन और नैतिक व्यवस्था को बनाए रखने का कार्य करती थी।

हालाँकि, यह भी स्वीकार किया गया है कि न्याय–प्रक्रिया के दौरान कभी–कभी स्वयं सभा के सभासदों से भी भूल या अन्याय हो सकता था। इस मानवीय संभावना को ध्यान में रखते हुए यजुर्वेद में एक मन्त्र के माध्यम से 'सभा में किए गए पाप' से मुक्ति की प्रार्थना की गई है। यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह दर्शाता

है कि वैदिक युग में न्यायिक प्रक्रिया को पूर्णतः निर्दोष नहीं माना गया, बल्कि उसमें सुधार और आत्मचिंतन की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया।

इस प्रकार, सभा के न्यायिक स्वरूप के निम्नलिखित प्रमुख पक्ष उभरकर सामने आते हैं–

- सभा एक संगठित न्यायिक संस्था थी, जहाँ विवादों का निपटारा किया जाता था।
- इसके निर्णय अंतिम और बाध्यकारी माने जाते थे ('नरिष्ट')।
- यह अपराधों और पापों का निवारण करने वाली संस्था थी ('किल्विष–स्पृत्')।
- न्याय–प्रक्रिया में त्रुटि की संभावना को भी स्वीकार किया गया था, और उसके परिमार्जन के लिए प्रार्थना की व्यवस्था थी।

समग्र रूप से देखा जाए, तो वैदिक युग की 'सभा' एक विकसित न्यायिक संस्था के रूप में कार्य करती थी, जिसमें सामूहिक निर्णय, नैतिकता और उत्तरदायित्व का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। यह व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि उस समय समाज में न्याय, अनुशासन और सामाजिक संतुलन को बनाए रखने के लिए सुव्यवस्थित संस्थागत ढाँचा विद्यमान था।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

सन्दर्भ–

1. अथर्ववेद, 3/3/5; 1/6/4
2. मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिमॅमं प्रापत् पौरुमवे वधो यः। अथर्ववेद, 3/30/6
3. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, प 242
4. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, प 242
5. श्त्वां विषो वृणतां राज्याय त्वामिमः प्रदिषः पंच्चदेवीः। वर्मन् राश्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रा विभजा वसूनिश अथर्ववेद, 3/4/2
6. विषस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वत्राश्ट्रमधिभ्रयत् ।श इहैवैधि मापच्योश्ठाः पर्वत इवाविवाचलिः। इन्द्रे हैव ध्रुवस्तिश्ठेह राष्ट्रमुधान्य। अथर्ववेद, 6/87/1–2
7. अहं राष्ट्रस्पभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः। अथर्ववेद 3/5/2
8. अथर्ववेद 3/8/7/1
9. अथर्ववेद, 3/4/4
10. रुवं ध्रुवेण हविशाभि सोमं मूषामसि । श्रथो त इन्द्रः केवलोविषः बलिह्रतस्करत् ऋग्वेद 1०/173/6
11. अथर्ववेद, 19/37/2
12. स विषोऽनुव्यचलत् अथर्ववेद 15/9/1
13. यजुर्वेद, 12/80
14. सभा च मा समितिष्चावतां प्रजापतेर्दुहिरौ संविदाने । येना सगच्छा उप मा स षिक्षाच्चारु बदानि पितरः
15. संगतेशु अथर्ववेद, 7/1/63
16. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प. 248
17. सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।" अथर्ववेद, 16/55/6
18. श्तं सभा च समितिष्च सेना च। अथर्ववेद, 15/9/2
19. ये ते के च सभासवस्ते मैं सन्तु सवाचसः।श अथर्ववेद, 7/1/2
20. अथर्ववेद, 8/10/1
21. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प 248

22. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प 248
23. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प 249
24. भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो वृहद्वो वय उच्यते सभासु। ऋग्वेद 6/28/6
25. सदा चन्द्रो याति सभामुप ऋग्वेद 8/4/6

Cite this Article

'मंजीत कुमार; डॉ. दिलीप कुमार कुशवाहा', "वैदिक युग की राजनीतिक दशा एवं प्रशासन", Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal, ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:3, Issue:8, August 2026.

"Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under Creative Commons Attribution 4.0 (CC-BY), allowing others to use, share, modify, and distribute it with proper credit to the author."